

## पत्रकारिता की चुनौतियाँ

एक लोकतांत्रिक व्यवस्थावाले देश में पत्रकारिता को लोकतंत्र का प्रहरी कहा जाता है। जाहिर है, पत्रकारिता की जिम्मेदारी जितनी विराट है, उतनी ही महत्वपूर्ण भी। विराट इस अर्थ में कि पत्रकारिता लोकतंत्र के सारे स्तंभों पर यानी विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका तीनों पर एक साथ नजर रखती है और महत्वपूर्ण इस अर्थ में कि जब लोकतंत्र के सारे स्तंभ धराशायी हो जाते हैं, उनकी जनपक्षीय प्रासंगिकता पर सवाल उठने लगते हैं तो लोकतंत्र को, लोकतांत्रिक संस्थाओं को और लोकतांत्रिक मूल्यों को बचाये रखने के लिए एक वैचारिक सिपाही की तरह जनता में संगठित चेतना का जागरण करती है। इस तरह एक बिन्दु पर साहित्यकर्म और पत्रकारिता की भूमिका पूरक लगती है, पर दोनों की व्यावहारिक प्रक्रियाओं में अन्तर है। साहित्यकर्म अपनी व्यावहारिक परिणति में एक वैयक्तिक प्रक्रिया है, जबकि पत्रकारिता एक टीम-प्रक्रिया है। लेकिन साहित्यकर्म की तुलना में पत्रकारिता का कार्यक्षेत्र विस्तृत है। साहित्य का आस्वादन प्रबुद्धवर्ग ही कर सकता है, जबकि पत्रकारिता को शिक्षित, अर्द्धशिक्षित व साक्षर सबसे संवाद करना होता है। यही कारण है कि पत्रकारिता अपनी साज-सज्जा में अधिक सुगम,



सुबोध और संप्रेषणीय रास्ता अपनाती है और इस रूप में जन-संवाद का सबसे ताकतवर और कारगर माध्यम है।

पहले पत्रकारिता का मतलब प्रिन्ट मीडिया था, पर अब पत्रकारिता का अभिप्राय प्रिन्ट मीडिया एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया दोनों हैं। स्वरूप चाहे प्रिन्ट मीडिया का हो या इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का – दोनों ही लोकतंत्र के चौथे स्तंभ माने जाते हैं और दोनों की प्रतिबद्धता जनता और जनतंत्र के प्रति है। लेकिन विगत कुछ दशकों में मीडिया का चेहरा तेजी से बदला है—सरोकार और साज-सज्जा दोनों स्तरों पर। इस बदलते चेहरे और चरित्र ने कई तरह की चिन्ताएँ पैदा की हैं तो कई तरह की चुनौतियाँ भी पैदा कर दी हैं। सच यह है कि जबसे व्यावसायिक घरानों ने अखबार या पत्रिका या चैनल का काम संभाला है, पत्रकारिता व्यवसाय बनी है। जब टेक्नोलॉजी का विकास इतना नहीं हुआ था, तब कम पूंजी से भी अखबार या पत्रिका निकालने का सपना देखा जा सकता था। कई अखबार और पत्रिकाएँ तो सामाजिक सरोकार के सहारे शुरू हुई थीं, और चली भी। पर बदलते परिदृश्य और प्रौद्योगिक विकास के दौर में कम पूंजी से प्रकाशन या प्रसारण संभव नहीं रह गया है। पहले पत्रकारिता के केन्द्र में आम आदमी होता था—संचालक के रूप में भी और खबरों के रूप

में भी। पर स्थिति अब उलट गयी है। पूंजी, बाजार और टेक्नोलॉजी के त्रिकोणीय गठजोड़ ने सरोकार—संपन्न पत्रकारिता को नेपथ्य में धकेल दिया है। पूंजीवादी बाजारतंत्र ने पत्रकारिता को सामाजिक दायित्वों से काट दिया है। चूंकि पत्रकारिता एक ऐसा माध्यम है जिसका अस्तित्व आम नागरिक जीवन से जुड़े सवालों की अनदेखी कर कायम ही नहीं रह सकता है, इसलिए आम आदमी के सवालों की आवाजाही मीडिया में होती रहती है। पर समग्रता में मीडिया केवल जनधर्मी नहीं रह गयी है, वरन् बाजारधर्मी व सत्ताधर्मी भी हो गयी है। विडम्बना यह है कि जिसके पास संसाधन हैं, उनके पास सरोकार नहीं हैं और जिनके पास सरोकार हैं, उनके पास संसाधन नहीं हैं। पत्रकारिता के नाम पर मुद्दे गढ़े जाते हैं, तर्क गढ़े जाते हैं, खबरें गढ़ी जाती हैं। जाहिर है, ऐसी पत्रकारिता का उद्देश्य खबरों को ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुँचाना नहीं है, वरन् खबरों को बेचना है। बेचने और पहुँचाने में बुनियादी फर्क है। सरोकार के बिना चीजें बेची जा सकती हैं, पहुँचायी नहीं जा सकती। चीजों को बेचने के लिए भावनाओं का शोषण करना होता है, जबकि पहुँचाने के लिए भावनाओं को समझना होता है। बाजारवाद के प्रभाव में

पत्रकारिता बेचने और पहुंचाने के फर्क को जानबूझकर भूला दी है।

लोकतंत्र को दिशा देनेवाली मीडिया यानी पत्रकारिता शासकवर्ग और बाजार की अर्थनीति से प्रभावित होती गयी है। मुनाफाधर्मी प्रबंधन के कारण बाजार की ओर पत्रकारिता का झुकाव इतना अधिक होता गया है कि पूंजी का संगठित लाभार्जन प्राथमिक लक्ष्य बना है और जनता से जुड़े मुद्दे तथा सरोकार गौण होते गये हैं। मीडिया का बाजारीकरण इतने घनघोर रूप में हुआ है कि आज टाइम्स ऑफ इंडिया जैसा अखबार कभी अपना प्रथम पृष्ठ किसी कंपनी के विज्ञापन के लिए बेच देता है तो कभी पूरा पहला पृष्ठ शब्द-शून्य छाप देता है। हिन्दुस्तान टाइम्स अखबार अपनी बिक्री बढ़ाने के लिए पाठकों के बीच लॉटरी का खेल खेलता है और इनाम में कार, फ्रिज और सोने की चेन बांटता है। राष्ट्रीय सहारा समूह फिल्मी हस्तियों का मेला लगवाकर राष्ट्रवाद, बेचता है तो स्टार चैनल पंचसितारा होटल में कविधर्मा प्रधानमंत्री की कविताओं का वाचन करवाकर उन्हें मीडिया सम्मान से अलंकृत करता है।

पिछले कुछ दशकों में मीडिया के साथ एक नया पक्ष जुड़ा है—प्रायोजक (स्पॉन्सर)। अब तो खबरों, सांस्कृतिक कार्यक्रमों,

बौद्धिक बहसों, साहित्य-उत्सवों की दुनिया प्रायोजित होने लगी है। खबरों की, प्रस्तुतियों की लोकप्रियता बिकती है। पैसा विज्ञापनों के माध्यमों से इकट्ठा किया जाता है और इस तरह उपभोक्ता-बाजार भी मजबूत हुआ है। खबरों और विभिन्न कार्यक्रमों के प्रसारणों की पहुंच को बाजार ने अपने अनुसंधान का लक्ष्य बनाया है। उसे जानकर-समझकर ही प्रायोजक अपना व्यावसायिक पहलु यानी पूंजीनिवेश तय करता है। प्रायोजकों के लक्ष्य भी सूक्ष्म होते गये हैं। जैसे कोई सिगरेट बनानेवाली कंपनी क्रिकेट को प्रायोजित करती है या मीडिया के खेल चैनल से प्रसारित होनेवाले कार्यक्रमों को प्रायोजित करती है तो विज्ञापन के जरिए सिगरेट पीने की भावना को 'ग्लैमराइज' भी करती है। प्रसारण के दौरान जनता के बीच सिगरेट के ब्रान्ड को भव्य ढंग से लाया जाता है। यह भव्यता मूल खबर या कार्यक्रमों की आत्मा को ढंकने की दिशा में बढ़ा हुआ एक सूक्ष्म कदम भी है। अपराधी, जासूसी, षडयंत्र, विस्थापन व सनसनी को बिकारुँ बनाकर बाजार में निरन्तर उतारा जा रहा है। इन्हें ही लोकप्रियतावादी संस्कृति का प्रतिनिधि रूप माना जा रहा है। उत्पादन के इस नये सांस्कृतिक रूप में वस्तु बनता मनुष्य अपनी मानवीयता को खोता जा रहा है, व्यापार को खबर बनाकर और

उत्पाद को अस्तित्व बनाकर पेश किया जा रहा है। मीडिया उत्पादन में भागीदारी नहीं है, पर उपभोग की प्रवृत्ति को जगाने एवं बनाये रखने में अहम् भूमिका निभा रही है। मीडिया और बाजार दोनों मिलकर आदमी की जेब में जरूरतों को ठूस रहे हैं—सिगरेट, शराब, फिल्में, खेल, भाषण, बहस, हास्य—व्यंग्य आदि जिनका आदमी मूल इच्छाओं से दूर-दूर तक कोई संबंध नहीं है। मीडिया हर दर्शक को, हर पाठक को यंत्रवत और प्रायोजित भोक्ता बना रही है। विचारक एरिक फ्रॉक ने लिखा है कि तकनीकी प्रगति को सर्वोच्च मूल्य मानने की प्रवृत्ति न सिर्फ बौद्धिकता की अतिवादी मान्यता से जुड़ी है, अपितु ज्यादा महत्व की बात यह है कि यह प्रवृत्ति प्रत्येक मशीनी और अजीवित वस्तु से एक गहरा भावनात्मक लगाव रखती है और यह लगाव कहीं-न-कहीं और किसी-न-किसी रूप में संवेदनात्मक उदासीनता की ओर ले जाता है। 'सादा जीवन उच्च विचार' की अवधारणा जो हमारे देश की सम्यतागत अवधारणा थी, पूंजीवादी बाजारतंत्र के लिए निषेधात्मक धारणा है और इस निषेधात्मकता को विभिन्न प्रक्रियाओं व प्रस्तुतियों के जरिए आज की पत्रकारिता मजबूती दे रही है। खबरों के जरिए और खबरों के साथ-साथ चलनेवाले विज्ञापन रंगीन और विलासी जीवन का लक्ष्य पाठकों

और दर्शकों के भीतर पैदा करते हैं। यह कैसा विरोधाभास है कि एक अखबार खबरें पेश करता है कि यह सरकार किसान विरोधी है और उसी अखबार में विज्ञापन छपा होता है – “किसानों के हित में बढ़ते सरकार के कदम।” एक चैनल बहस चला रहा होता है कि आज अगुक क्षेत्र में भूख से इतने लोगों की मौत हुई है और बहस के बीच विज्ञापन दिखाया जाता है कि “सरकार ने इतने हजार क्विंटल खाद्यान्न वितरित किये हैं। दर्शक या पाठक समझ नहीं पाता कि सत्य क्या है? सच यह है कि दर्शक या पाठक महज उपभोक्ता बनकर रह गया है, एक ऐसा उपभोक्ता जो प्रायोजित मीडिया के लय, ताल और जरूरतों से शासित हो रहा है। सच यह है कि पत्रकारिता एक संस्कृतिकर्म नहीं रही, उद्योग बन गयी है मौजूदा दौर में मीडिया के तमाम रूप बाहर से चाहे जितने लोकतांत्रिक, जनहितकारी, उदार और खुशनुमा दिखते हों, वे लगातार जनसाधारण की चेतना को बरगलाने और विकृत करने का काम कर रहे हैं। अपनी अंतिम परिणति में वे सत्ताधारियों की विचारधारा को जनमानस की चेतना पर आरोपित करते हैं। इस नये भूमंडलीकरण के दौर में मीडिया एक स्वायत्त और निर्दोष अवधारणा नहीं रह गयी है। मीडिया यानी पत्रकारिता मनुष्यकेन्द्रित नहीं, मुनाफा केन्द्रित हो गयी है और शोषण की

व्यूह-रचना करनेवाली चालाक और बाजारधर्मी शक्तियों के हाथों का एक खिलाणा बन गयी है, बल्कि बाकायदा एक विशाल उद्योग में तब्दील हो गयी है। इस युग में जनता के मनोजगत का सांस्कृतिक नियंत्रण और उसका सत्ता अनुकूलन व्यापक आर्थिक गतिविधियों का हिस्सा है। फिल्म, रेडियो, टी.वी. अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ सभी एक ऐसी व्यवस्था बनाने में सहयोग दे रहे हैं जो हमें बाहर से सार्वभौम, एक रूप और संपूर्ण प्रतीत होती है, पर सच यह है कि वे हमें टुकड़े-टुकड़े में बांट रहे हैं। सांस्कृतिक संस्थानों और मास मीडिया की कमान को बहुराष्ट्रीय निगमों ने अपने हाथों में ले लिया है और स्थानीय सरकारें इस दुरभिसंधि में अपनी भूमिका अदा कर रही हैं। एक ऐसे दौर में जब अखबार, पत्र-पत्रिकाओं से लेकर चैनल तक में प्रायोजित चीजें परोसी जा रही हैं, अखबारों व चैनलों की व्यूह-रचना जारी है, संपादनगण भी पत्रकार की भूमिका में नहीं, मीडिया-प्रबंधक की भूमिका ने दिखायी दे रहे हैं जहां पहले से हर चीज की एक सुविधाजनक, सत्ता-अनुकूलित और रेडिमेड व्याख्या मौजूद हो-वहां यथार्थ की तस्वीरों से जनता को रू-ब-रू कराना आसान नहीं रह गया है। सत्ता-प्रायोजित सूचनातंत्र की पकड़ हमारी वैचारिकता और चेतना पर इतनी गहरी है कि हर समस्या



की एक जनसुलभ व्याख्या लगभग एक सार्वजनिक मान्यता के रूप में उपलब्ध कराकर जन-विश्वास का हिस्सा बनाया जा रहा है और हमारी चेतना उसी प्रदत्त व्याख्या से संचालित होने लगती है। कुल मिलाकर पत्रकारिता के समक्ष जो चुनौतियाँ हैं, उन्हें सूत्रबद्ध रूप में इस तरह समझा जा सकता है –

1. पत्रकारिता का संचालन एवं नियंत्रण कॉर्पोरेट हाथों में होना।
2. पत्रकारिता की गुनाफाधर्मी प्रतियोगिता।
3. पत्रकारिता का प्रायोजित होना।
4. पत्रकारिता के केन्द्र में आम आदमी की जगह खासवर्ग की प्रमुखता।
5. पत्रकारिता में जनता से जुड़ी सूचनाओं का गायब होते जाना।
6. पत्रकारिता की भाषा का छद्मवेशी होते जाना।
7. पत्रकारिता का एलो.जर्नलिज्म की ओर बढ़ता झुकाव।
8. पत्रकारिता का जनसंवाद की जगह सत्ता-संवाद में तब्दील होते जाना।

पर इन तमाम चुनौतियों के बावजूद सुखद स्थिति यह है कि पत्रकारिता का एक हिस्सा ऐसा है जिसके लिए

पत्रकारिता धंधा नहीं है, वरन् एक मिशन है। कुछ अखबार, कुछ चैनल, कुछ पत्रकार ऐसे हैं जो 'गोदी मीडिया' का हिस्सा बनने से इन्कार कर लोकतंत्र के चौथे स्तंभ के रूप में अपनी प्रतिबद्ध एवं ईमानदार भूमिका निभा रहे हैं और ऐसी ही भूमिकाएँ माँजूद जटिल एवं अंधेरे दौर में भी लोकतंत्र के न खत्म होने का मजबूत भरोसा पैदा कर रही हैं। गणेशशंकर विद्यार्थी, माखनलाल चतुर्वेदी, रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे पत्रकारिता के गौरवशाली हस्ताक्षरों की विरासत को अपनी चेतना में लेकर चलनेवाली पत्रकारिता की धारा सूखी नहीं है।